छठा अध्याय

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ १ ॥

(आत्मा—अस्ति) गत पञ्चम अध्याय के अन्तिम सूत्र से देह में चैतन्य का भूतों से प्रकट होना खण्डित कर दिया, तब किसका चैतन्य है ? इस पर इस सूत्र में वर्णित है कि देह में आत्मा है, जिसका चैतन्य उसमें है। देह में चैतन्य के वर्तमान होने से उसमें आत्मा है, यह प्रसङ्ग यहां उठाया जाता है, क्योंकि देह में आत्मा है (नास्तित्व-साधनाभावात्) आत्मा के नास्तित्व साधन के अभाव से आत्मा है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, कोई भी ऐसा साधन नहीं है जिससे 'अहम्=मैं' यह आत्मानुभव स्वचैतन्यरूप निराकृत किया जा सके ॥ १ ॥

और भी—

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥

(असौ देहादिव्यतिरिक्तः) वह देह में होता हुआ भी देह अन्तःकरण इन्द्रियों से स्वरूपतः भिन्न है। क्योंकि (वैचित्र्यात्) विलक्षण होने से देह तो बाल्य, कौमार्य, यौवन, वार्धक्य परिणाम को ग्रहण करता है। बाल्य आदि अवस्थाओं में परिणाम को प्राप्त होता है वैसा आत्मा नहीं। वह तो सब अवस्थाओं में 'अहम्'='मैं' इस प्रतीति से वैसा ही रहता है। अन्तःकरण इन्द्रियों की विकलता में भी 'मैं' अनुभूति वैसी ही रहती है। मृत देह में रूप, स्पर्श आदि देह धर्म तो होते हैं किन्तु उससे विलक्षण स्फूर्ति, बोलना, मनन, बोध आदि आत्म-धर्म नहीं मिलते, ये तो जीवित देह में ही रहते हैं, मृत देह और जीवित देह में बाह्य धर्म समान होने पर भी जीवित देह में स्फूर्ति भाषण, मनन, बोध, अहम्भाव आदि विलक्षण धर्म आत्मा को सिद्ध करता है ॥ २ ॥

दूसरा हेतु कहते हैं—

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥ ३ ॥

(षष्ठीव्यपदेशात्—अपि) षष्ठी विभक्ति के सम्बन्ध व्यवहार से भी देह आदि से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है, कि मेरा देह मेरा मन, मेरी आँख "**उत स्वया तन्वा संवदे.....**" (ऋ० ७। ८६। २)=अपनी देह

से संवाद करता हूं,—"**तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**" (यजु० ३४। १)=मेरा मन शिवसङ्कल्पवाला हो। "**चक्षुर्मे पाहि**" (यजु० २। १६)=मेरी आंख की रक्षा कर, इत्यादि भेदव्यवहार देह आदि से भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है॥ ३॥

यहां शङ्का करके समाधान करता है—

न शिलापुत्रवद् धर्मिग्राहकमानबाधात्॥ ४॥

(शिलापुत्रवत्—न) वह षष्ठी व्यपदेश शिलापुत्र की भांति शङ्कनीय नहीं, जैसे शिलापुत्र शब्द में षष्ठी व्यपदेश है। शिलापुत्र पत्थर से बने पुतले का शरीर, शिर, हाथ, पैर आदि है। क्योंकि शिलापुत्र ही शिलापुत्र का शरीर है तथा शिर आदि उसके ही खण्डरूप हैं। वैसा यहां षष्ठी व्यपदेश नहीं है। क्योंकि (धर्मिग्राहकमानबाधात्) धर्मी=चेतन धर्मी देह आदि से व्यतिरिक्त आत्मा का ग्रहण करने वाला मान=प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाधा जाता है इस हेतु से। शिलापुत्र का शरीर आदि षष्ठी व्यपदेश तो उससे भिन्न मनुष्य करता है, उसका शरीर शिर या नेत्र। प्रत्युत मेरा शरीर मन या नेत्र यहां देह में तो प्रत्यक्ष 'अहम् आत्मा'=मैं आत्मा कहने वाला आत्मस्वरूप तत्त्व करता है। व्यपदेशकर्ता व्यपदेश से भिन्न होता है यह प्रत्यक्ष प्रमाण का बाधप्रसङ्ग होता है अभेद में। अनुमान भी बाधा जाता है अभेद में। शिलापुत्र का शरीर तो वैसा ही रहता है परन्तु प्राणी का देह तो चलता है। इससे अनुमान किया जाता है कि देह के यथेष्टसंचालन में समर्थ देह आदि से भिन्न चेतन आत्मा है। शब्द प्रमाण भी बाधा जाता है अभेद में। "**उत स्वया तन्वा संवदे.....**" (ऋ० ७। ८६। २) यहां 'स्वया तन्वा' अपनी देह से यह भेदनिर्देश है। "**तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**" (यजु० ३४।) मेरा मन शिवसङ्कल्पवाला हो। यहां मन का भेदनिर्देश है। "**चक्षुर्मे पाहि**" (यजु० २। १६) मेरी आंख की रक्षा कर। यहां आंख का भेद निर्देश है॥ ४॥

उस देह आदि से अतिरिक्त चेतन आत्मा की—

अन्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता॥ ५॥

(कृतकृत्यता—अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या) कृतकृत्यता=कृतकार्यता चेतनस्वरूप आत्मा की सार्थकता आत्मभाव है, अत्यन्त दुःखनिवृत्ति से, दुःखरूप अनात्मसम्पर्क विमुक्ति से॥ ५॥

अत्यन्त दुःखनिवृत्ति से कैसे कहते हो? अत्यन्त सुखप्राप्ति से क्यों

नहीं हो कृतकृत्यता मोक्ष में ? इस पर कहते हैं—

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥ ६ ॥

(यथा दुःखात् पुरुषस्य क्लेशः) पुरुष का जैसा दुःख से क्लेश द्विष्टता, उद्विग्नता हानिकर होती है (तथा सुखात्—अभिलाषः—न) वैसी सुख से अभिरुचि हृष्टता लाभकारी नहीं होती। नाश कार्य के रचनापेक्षया बलवान् होने से प्राप्ति की अपेक्षा दुःख का अभाव श्रेष्ठ है, शरीर की पुष्टि की अपेक्षा नीरोगता श्रेष्ठ है। ऐसे ही मोक्ष में भी अत्यन्त दुःखनिवृत्ति ही वाञ्छनीय है ॥ ६ ॥

और फिर—

कुत्रापि कोऽपि सुखी न* ॥ ७ ॥

(कुत्र—अपि कः—अपि सुखी न) किसी भी स्थान पर कोई भी जन सुखी नहीं है ॥ ७ ॥

क्योंकि सुखी का जो सुख है—

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥

(तत्—अपि दुःखशबलम्—इति) वह सुख भी दुःखमिश्रित है, ऐसा मानकर (विवेचकाः—दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते) विवेकी उस सुख को दुःखकोटि में स्थापित करते हैं, विषमिश्रित अन्न की भांति। कहा भी है योगदर्शन में—"**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**" (योग० २।१५)=परिणाम—ताप—संस्कार रूप दुःखों से सत्त्वादि गुणों के विरोधी व्यवहार से विवेकी के लिये सब दुःख ही है ॥ ८ ॥

दुःखनिवृत्ति ही पुरुषार्थत्व कहते हो उसमें सुखलाभ के अभाव से अपुरुषार्थत्व है, क्योंकि सुखलाभ के लिये मनुष्य पुरुषार्थ करते हैं। इस विषय में कहते हैं—

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्नैवं* *विध्यात् ॥ ९ ॥

(सुखलाभाभावात्—अपुरुषार्थत्वम्—इति चेत्) दुःखनिवृत्ति

---

* 'सुखी न' अनिरुद्धपाठ। 'सुखीति' विज्ञानभिक्षुपाठ।

** 'चेन्नैव' (अनिरुद्धपाठ) 'चेन्न' (विज्ञानभिक्षुपाठ)।

'सुखलाभ का अभाव' होने से अपुरुषार्थत्व है, यदि ऐसी कल्पना की जावे तो (न—एवं द्वैविध्यात्) ऐसी कल्पना न करनी चाहिए, क्योंकि यहां सांसारिक दुःखनिवृत्ति की भांति केवल दुःखनिवृत्ति ही नहीं है किन्तु यहां पुरुषार्थ की द्विविधता है, यहां की दुःखनिवृत्ति में पुरुषार्थ दो प्रकार का है। जो यहां दुःखनिवृत्ति है, पुरुषार्थरूप उसी में असांसारिक सुखनिष्पत्ति=अध्यात्म सुख-सम्पत्ति भी अनिवार्यतः सांख्यसिद्धान्त में होती है, अतः दो प्रकार का पुरुषार्थ यहां है। कहा भी है "**समाधि-सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**" (सां० ५। ११६) अतः सुखलाभाभाव का दोष नहीं आता। अध्यात्मसुखलाभ या ब्रह्मानन्द-सुखलाभ तो उसके अन्तर्गत है ही—"**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" (तै० ३। १। २)=वह ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को प्राप्त होता है। "**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन**" (तै० ९। ३)=ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ किसी से डरता नहीं।

विज्ञानभिक्षुभाष्य में "पुरुषार्थद्वैविध्यात् सुखत्वदुःखाभावत्वाभ्यामित्यर्थः सुखी स्याम् दुःखी न स्यामिति हि पृथक् हि लोकानां प्रार्थना दृश्यते" (विज्ञानभिक्षुभाष्यम्)=दो प्रकार के पुरुषार्थ से सुखी होऊं, न होऊं, इस प्रकार पृथक् ही लोगों की प्रार्थना दीखती है। सुखप्राप्ति भी पुरुषार्थ है, दुःखनिवृत्ति भी पुरुषार्थ है, तब केवल दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ में विज्ञानभिक्षु भाष्यानुसार मोक्ष में एकाङ्गिनी कृतकृत्यता और पुरुषार्थता है॥ ९॥

अच्छा, हो पुरुषार्थ की द्विविधता से अत्यन्तदुःखनिवृत्ति में अदोष तथा कृतकृत्यता पुरुष की, परन्तु दुःखसम्पर्क ही पुरुष में नहीं बन सकता। क्योंकि—

निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः॥ १०॥

(आत्मनः—निर्गुणत्वम्) पुरुष का निर्गुणत्व है, निर्गुण है वह (असङ्गत्वादिश्रुतेः) उसका असङ्गत्व श्रुति में प्रतिपादन से—"**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृ० ४। ३। १५)॥ १०॥

समाधान करता है—

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात्॥ ११॥

(परधर्मत्वे—अपि) लौकिक दुःख आदि परधर्म=अन्तःकरण धर्म है। पूर्व कह दिया ही है—"**अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्**" (सांख्य०

५। २५)। योगदर्शन में भी—''कर्मफलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयास्ते च मनसि वर्तमाना पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्ता'' (योग० १। २४, व्यास:)=कर्मफल के अनुसार वासना=आशय ये मन में रहते हुए भी पुरुष में कहे जाते हैं, वह ही उसके फल को भोगता है। परन्तु, अन्त:करण के धर्म होने पर भी (अविवेकात्) अन्त:करण के संसर्ग से उसके स्वामिभाव से (तत्सिद्धि:) पुरुष में दु:खत्व आदि की सिद्धि होती है॥ ११॥

वह यह—

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्ते:॥ १२॥

(अविवेक:—अनादि:) अविवेक अनादि होता है अन्यथा उस अविवेक के अनादित्व स्वीकार न करने पर सादित्व हो, तो उसके आदित्व में दो दोष आते हैं कि किससे उसका आदित्व है? यह प्रश्न है। पुन: उसका आदित्व किससे है? इस प्रकार कल्पना में अनवस्था दोष प्रसङ्ग आता है। अन्य यह दोष भी कि उसके आदित्व से पूर्व विवेक होना चाहिए ही, विवेक होने पर पुन: अविवेक की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसके अभाव रूप होने से। प्रकाश के होने पर अन्धकार, उत्पत्ति की कल्पना युक्त नहीं यह अविवेक से सादित्व में असम्भव होने का दोष है। किसी से 'प्रकाश का आवरक' के समान निमित्त कल्पित किया जावे, यदि फिर उसका निमित्त कल्पना की अनवस्था दोषकल्पना होजावे। इस प्रकार दोनों दोषों के प्रसङ्ग से अविवेक आदि नहीं है, किन्तु अनादि ही है, अभाव रूप होने से, अन्धकार की भांति॥ १२॥

अनादि होता हुआ भी—

न नित्य: स्यादात्मवदन्यथाऽनुच्छित्ति:॥ १३॥

(नित्य:—न स्यात्—आत्मवत्) अविवेक नित्य नहीं है, आत्मा की भांति उसके अभावरूप होने से। भावरूप अनादि नित्य होता है जैसे आत्मा (अन्यथा अनुच्छित्ति:) अन्यथा अविवेक के नित्यत्व में अनुच्छित्ति=अनाश हो॥ १३॥

होता है उस अविवेक का नाश, वह कैसे यह कहते हैं—

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत्॥ १४॥

(अस्य प्रतिनियतकारणनाश्यत्वं ध्वान्तवत्) जैसे अन्धकार की प्रतिनियत कारणनाश्यता है, अन्धकार प्रतिनियतकारण से=नितान्त-

नियतकारण=अबाध्यनियत कारण से नाश को प्राप्त होता है, क्योंकि उसका प्रतिद्वन्द्वीरूप कारण प्रकाश से नाश होता है। वैसे ही अविवेक भी प्रतिनियतकारण=अबाध्यकारण से अपने प्रतिद्वन्द्वी कारण विवेक से नाश को प्राप्त होता है, अतः उससे उसका नाश्यत्व है॥ १४॥

इसी प्रकार—

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात्॥ १५॥

(अत्र—अपि प्रतिनियमः) विवेक में भी अविवेक नाश के लिये प्रतिनियम=प्रतीकार नियति=प्रतिद्वन्द्वी भाव है (अन्वयव्यतिरेकात्) विवेक होने पर अविवेक का नाश, विवेक न होने पर अविवेक की प्रवृत्ति होती है, यह अन्वय व्यतिरेक होने से॥ १४॥

वह यह विवेक से नष्ट होने वाला—

प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बन्धः॥ १६॥

(अविवेकः—एव बन्धः) अविवेक ही पुरुष का बन्धन हेतु है, उससे बन्धता है इससे बन्धनहेतु है। क्योंकि (प्रकारान्तरासम्भवात्) दूसरे हेतुओं के सम्भव न होने से=स्वभाव आदि का हेतु होना खण्डित किए जाने से। अतः पुरुष को विवेक सम्पादन करना चाहिए॥ १६॥

विवेकसम्पन्न किए हुए अविवेककृत बन्धन नष्ट हुए पुरुष का—

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यानावृत्तिश्रुतेः॥ १७॥

(मुक्तस्य पुनः—बन्धयोगः—न) मुक्त का फिर बन्धन का योग बन्धनसम्बन्ध नहीं होता है मुक्ति में (अनावृत्तिश्रुतेः) अनावृत्ति के श्रवण से—"**तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य.....एतममृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरार्वतन्ते**" (प्रश्नो० १।१०)=तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्या से परमात्मा को खोजकर अमृत-परायण मोक्ष को पाकर जन्मार्थ पुनः नहीं लौटता॥ १७॥

क्योंकि—

अपुरुषार्थत्वमन्यथा॥ १८॥

(अन्यथा—अपुरुषार्थत्वम्) यदि मुक्ति से जन्म ले तो विवेक की अपुरुषार्थता हो जावे। अतः मुक्ति की अवधि को उल्लंघन कर वह अपने या दूसरों का उद्धार करने को नहीं लौटता, जैसा आजकल कुछ लोग मानते हैं॥ १८॥

और भी—

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९ ॥

(उभयोः—अविशेषापत्तिः) दोनों मुक्त और बद्ध में समानता आ जावे ॥ १९ ॥

जिस मुक्ति के लिये पुरुषार्थ किया जाता है वह किस रूप वाली है ? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २० ॥

(अन्तरायध्वस्तेः परः—न मुक्तिः) पुरुष के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्यानुभव में जो अन्तराय=दुःखगणबाधक=अविवेक है जिस से पुरुष प्रतिकूलता अनुभव करता है उसका नाश मुक्ति है, उस से भिन्न मुक्ति-स्वरूप नहीं ॥ २० ॥

यहां तो अन्तरायनाश मुक्ति कही जाती है जिसके लिये पुरुषार्थ करना चाहिए, किन्तु—"**सुखलाभापवादपुरुषार्थत्वमिति चेन्नैवं द्वैविध्यात्**" (सांख्य० ६ । ९) इस सूत्र में पुरुषार्थ की द्विविधता होना और लाभ रूप में स्वीकार की है परन्तु यहां सूत्र में हान दिखलाया, पूर्व सूत्र में लाभ भी दिखलाया। इस पर कहते हैं—

तत्राप्यविरोधः ॥ २१ ॥

(तत्र—अपि—अविरोधः) यद्यपि मुक्ति का अर्थ विमुक्ति=हान=दुःख का हान=अन्तरायध्वंस है, इस से भिन्न लाभात्मक अर्थ नहीं है, तथापि उस लाभ में ज्ञानपूर्वक=दुःखहानपूर्वक=अन्तरायध्वंसपूर्वक ब्रह्मानन्दलाभ में भी अविरोध है, विरोध नहीं है—"**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**" (सांख्य० ५ । ११६)। इस प्रकार पूर्व कथनानुसार, दो प्रकार का पुरुषार्थ मुक्ति में सांख्य सिद्धान्त में स्वीकार होने से ॥ २१ ॥

इस प्रकार अन्तरायध्वंस=दुःखनिवृत्ति मुक्ति है अथवा दुःखनिवृत्ति और ब्रह्मानन्दप्राप्ति दोनों रूप मुक्ति है या ब्रह्मानन्दप्राप्ति मुक्ति है, इस विषय में—

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ २२ ॥

(अधिकारित्रैविध्यात्—नियमः—न) अधिकारियों के तीन प्रकार उत्तम—मध्यम—मन्द भेद होने से मुक्ति की परिभाषा का नियम नहीं। कोई दुःखनिवृत्ति ही मुक्ति है, इस परिभाषा से सन्तुष्ट होकर विवेक साधते हैं, वे उत्तम अधिकारी हैं। कुछ दुःखनिवृत्ति और ब्रह्मानन्दप्राप्ति मुक्ति है, इस परिभाषा से विवेक आरम्भ करते हैं, वे मध्यम अधिकारी

हैं। कोई तो ब्रह्मानन्द रूप मुक्ति ही मन में धारकर विवेक के लिये यत्नशील होते हैं, वे मन्द अधिकारी हैं॥ २२॥

उन में ब्रह्मानन्द-प्राप्ति मुक्ति यह मन्तव्य और कथन—

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम्॥ २३॥

(उत्तरेषाम् दार्ढ्यार्थम्) मन्द अधिकारियों के विवेकसम्पादन के लिये दृढतार्थ होगा कि विवेक का अवश्य अनुष्ठान करें। कहा है मुक्ति में आनन्द प्रसिद्धि "**विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्**" (सांख्य० ५। ६८)॥ २३॥

विवेक सम्पादन के लिये योगाभ्यास भी अनुष्ठान करने योग्य है, उस में प्रथम—

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः॥ २४॥

(स्थिरसुखम्—आसनम्—इति नियमः—न) स्थिर सुख=शरीर का निश्चल सुख जिस में हो वही आसन अनुष्ठान करने योग्य है, यही आसन का तात्पर्य है, किसी आसन-विशेष का नियम नहीं=प्रतिबन्ध नहीं॥ २४॥

अब मुख्य योगसाधन—

ध्यानं निर्विषयं मनः॥ २५॥

(निर्विषयं मनः—ध्यानम्) विषयरहित=वृत्तिरहित निरुद्धवृत्तिवाला, सत्त्व आदि गुणों के अधिकारों से रहित मन ही ध्यान नामक मुख्य योगसाधन है॥ २५॥

क्यों जी! पुरुष ध्यान आदि का अनुष्ठान करे या न करे, दोनों अवस्थाओं में वह वैसा ही होता है। पुरुष में किसी का आना-जाना नहीं होना चाहिए, उसके निःसङ्ग होने से—"**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४। ३। १५) इस पर कहते हैं—

उभयथाऽप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद् विशेषः॥ २६॥
निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्॥ २७॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(उभयथा—अपि—अविशेषः—चेत्) ध्यान आदि के अनुष्ठान से या न अनुष्ठान से, दोनों प्रकार से भी पुरुष समान ही रहता है। उसके असङ्ग होने से व्यर्थ ध्यान आदि अनुष्ठान है, यदि यह कहा जावे तो (न—एवम् उपरागनिरोधात्—विशेषः) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि

ध्यान आदि से उपरागनिरोध से पुरुष में विशिष्टता होती ही है। क्योंकि (निःसङ्गे—अपि—उपरागः—अविवेकात्) निःसङ्ग पुरुष में अविवेक से उपराग=संसर्गापत्ति होती है॥ २६, २७॥

और वह उपराग—

जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः॥ २८॥

(जपास्कटिकयोः—उपरागः-इव न) जपापुष्प और स्फटिक के संसर्ग से जपा-फूल का रंगाभास स्फटिक में होता है, वैसा वह उपराग नहीं होता (किन्तु—अभिमानः) पुरुष के चेतन होने से उस राग का अभिमान करता है, अपने में आरोपित करता है, अतः पुरुष में जपा स्फटिक की भांति उपराग न होकर अभिमान होता है॥ २८॥

और फिर—

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः॥ २९॥

(ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिः—तन्निरोधः) ध्यान, धारणा, प्राणायाम, आसन, अभ्यास, वैराग्य, यम, नियम के द्वारा उस अभिमान का निरोध होता है॥ २९॥

और भी—

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः॥ ३०॥

(लयविक्षेपयोः) लय—वृत्तियों=प्रवृत्तियों का निगूढ मूर्च्छित भाव—निद्राभाव, विक्षेप—वृत्तियों का व्यापार प्रमाणविपर्यय, विकल्प-स्मृतिरूप, इन दोनों की (व्यावृत्त्या—इति—आचार्याः) निवृत्ति से उसका निरोध उपरागरूप अभिमान का निरोध होता है, ऐसा अनेक आचार्य मानते हैं॥ ३०॥

उस ध्यान आदि अनुष्ठान में—

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्॥ ३१॥

(स्थाननियमः—न चित्तप्रसादात्) ध्यान में स्थान का नियम अपेक्षित नहीं। चित्त की प्रसन्नता से ध्यान सम्भव है। जिस स्थान में चित्त प्रसन्न हो, चित्त अनुकूलता का अनुभव करे, वहां ध्यान आदि करना चाहिए॥ ३१॥

हो ध्यान आदि योगाभ्यास के अनुष्ठान से पुरुष के उस अभिमान की निवृत्ति, उस उपरागरूप अभिमान की आदि हेतुभूत प्रकृति कैसे और किस रूपवाली है? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ३२ ॥

(प्रकृतेः—आद्योपादानता) समस्त जगद्रचना में प्रकृति का आद्य उपदानत्व है, क्योंकि (अन्येषां कार्यत्वश्रुतेः) जगरचना से पूर्व अन्य पूर्वसृष्ट महत्तत्त्व, अहङ्कार, तन्मात्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी का कार्यत्व श्रवण से—"**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ॥**" (श्वेता० ४। ५) यहां सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणमयी प्रकृति का उपादानत्व आद्य कहा है। और महत्तत्त्व आदियों के कार्यत्व की श्रुति—"**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**" (मुण्डको० २। १। ३) तथा "**एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी**" (तै० उ० २। १) इन दोनों वचनों में महत्तत्त्व, आकाश, वायु आदि की उत्पत्ति कही गई है॥ ३२॥

क्यों जी! प्रकृति ही आद्य उपादान हैं, पुरुष क्यों नहीं आद्य उपादान? वह भी तो नित्य है। इस पर कहते हैं—

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

(आत्मनः—नित्यत्वे—अपि न योग्यत्वाभावात्) पुरुष का नित्यत्व होने पर भी वह जगत् का उपादान नहीं है, उसकी योग्यता के अभाव से। पुरुष में जगत् का उपादान होने की योग्यता=सत्त्वादि गुणयोग और परिणाम धर्म नहीं है॥ ३३॥

और भी—

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥ ३४ ॥

(श्रुतिविरोधात्) श्रुतिविरोध से=पुरुष यदि उपादान हो जगत् का तो श्रुति का विरोध होता है—"**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**" (श्वेता० ६। ८)=उसका कार्य नहीं, उससे कुछ कार्य नहीं बना, न उसके इन्द्रिय आदि करण हैं। पुनः (कुतर्कापसदस्य—आत्मलाभः—न) जो कुतर्क से अपने पक्ष को अन्यथा स्थापित करता है उसका आत्मलाभ=आत्मज्ञान नहीं होता है, वह आत्मविवेकी नहीं होता, क्योंकि परिणाम धर्म आत्मा में स्वीकार करके कैसे आत्मलाभ हो॥ ३४॥

और—

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥

(पारम्पर्ये—अपि) कार्यरूप जगत् की कारणपरम्परा में भी

(प्रधाना-वृत्तिः) प्रकृति नामक अव्यक्त प्रधान का अनुवर्तन=अनुगत वर्तमानत्व है (अणुवत्) अणु की भांति। जैसे किसी कार्य वस्तु, घट, मठ, वस्त्र आदि का कारणपरम्परा में अणु उसका अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही अनुवृत्त=अनुगत होता है। उनमें घड़े का कारण कपाल=ठीकरे, उनका कारण ईंटे, ईंटों का कारण मृत्तिकापिण्ड, फिर मिट्टी के अणु अत्यन्त सूक्ष्म अंश=कारण हैं, वस्त्र का कारण तन्तु-तन्तुओं का कारण रुई, उसका कारण रुई के अणु अत्यन्त सूक्ष्म भाग हैं। उसी प्रकार समस्त जगत् का कारण पृथिवी आदि स्थूल भूत, उनका कारण तन्मात्राएं=सूक्ष्म भूत, उनका कारण अहङ्कार, उसका भी कारण महत्तत्त्व, पुनः उसका भी प्रधान=प्रकृति नामक अव्यक्त उपादान कारण अनुवृत्ति से परम्परा में सिद्ध होता है। पुरुष उस रूप में उपादानत्वभागी नहीं होता है। प्रधान=प्रकृति में ही अतुलसूक्ष्मता कारणपरम्परा में है। कहा भी है—"**न चालिङ्गात् परं सौक्ष्म्यस्ति.....अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्याम्.....अन्वयिकारणं पुरुषो न भवति**" (योग० १। ४५, व्यासः) अर्थात् प्रकृति से परे सूक्ष्मता नहीं है, प्रधान= प्रकृति में सूक्ष्मता अतुल कही है. क्योंकि पुरुष अन्वयिकारण क्रमशः अन्तिम सूक्ष्म नहीं है॥ ३५॥

फिर उसकी—

सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम्॥ ३६॥

(सर्वत्र कार्यदर्शनात्—विभुत्वम्) सारी दिशाओं में समस्त ब्रह्माण्ड में कार्य के देखने से उस उपादान कारण प्रधान=प्रकृति नामक अव्यक्त का विभुत्व=व्यापकत्व ब्रह्माण्डव्यापित्व=विश्वयापित्व है। प्रधान=प्रकृति का विभुत्व ब्रह्माण्ड को अपेक्षित करके है। लोकलोकान्तर की अपेक्षा से व्यापकत्व दर्शाया है, ब्रह्माण्ड से बाहिर भी विराजमान है। श्रुति में जैसे कहा है—"**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः**" (यजु० ३१। ३)=इतना जगत् उसकी महिमा है, पुरुष परमात्मा इससे बड़ा है॥ ३६॥

प्रधान=प्रकृति का विभुत्व सर्वत्र कार्य देखने से कहते हो, अनन्त होने से नहीं। जहां कहीं उसका लोक-लोकान्तर रूप कार्य कार्यरूप में परिणाम है वहां-वहां गति के बिना न हो सके। और जो गति क्षोभ नामक होती है जिसके विषय में कहा है—"**एकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६। १२)=एक बीज को जो बहुत प्रसार कर देता है। फिर उसकी आद्यकारणता कैसे है, इस पर कहते हैं—

गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत्॥ ३७॥

(गतियोगे—अपि) गतियोग होने पर भी वैसे लोक-लोकान्तर रूप परिणाम की प्राप्ति के लिये क्रिया सम्बन्ध होने पर भी उसकी (आद्यकारणताऽहानिः—अणुवत्) आद्यकारणता की हानि नहीं होती, अणु की भांति। जैसे अणु गति के योग से=क्रिया के सम्बन्ध से घट, मठ वस्त्र आदि की आद्यकारणता के भागी हैं, जैसे पार्थिव आदि अणु गतियोग में पृथिवीपिण्ड आदि के मूल कारण हैं, वैसे ही गतियोग प्रधान=प्रकृति की आद्यकारणता का घातक नहीं है॥ ३७॥

अणु के समान कहा है। यदि प्रसिद्ध अणुओं की भांति आद्यकारणता प्रधान की भी है तो अणुस्वीकार से कार्यसिद्धि हो जावे, पुनः प्रधान स्वीकार की आवश्यकता नहीं है। इस आकांक्षा पर कहते हैं—

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः॥ ३८॥

(प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य) कारणत्व से प्रसिद्ध अणुओं से आधिक्य =ज्येष्ठत्व प्रधान=प्रकृति का आद्यकारणता में है, (नियमः—न) अतः नियम नहीं कि अणु समस्त जगत् की आद्यकारणता के भागी हों। हों पृथिवी आदि पिण्डों के या पृथिवी आदि भूतों के आद्य कारण। वे अणु हैं, उनके सूक्ष्म अंश तन्मात्रनामक हैं, परन्तु उनका भी कारण अहङ्कार है, उसका भी महत्तत्त्व है, फिर उसका भी कारण प्रधान=प्रकृति है। अतः प्रधान का आद्यकारणता में ज्येष्ठत्व है॥ ३८॥

यह अन्य भी हेतु प्रधान के ज्येष्ठत्व में है कि—

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्॥ ३९॥

(सत्त्वादीनाम्—अतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की प्रकृतिधर्मता नहीं। सत्त्व, रजः, तमः गुण प्रकृति के धर्म नहीं तद्रूप होने से, तत्स्वरूप होने से, प्रकृति के सत्त्वादिगुणमय होने से। कहा भी है पूर्व—"**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**" (सांख्य० १।६१) अणु तो सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण वाले हैं न कि तद्रूप=सत्त्वादिरूप= सत्त्वादिमय, किन्तु स्वस्वभूतविषयक गन्ध आदि गुण वाले हैं, कहा भी है—"पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायव्यस्य स्पर्शतन्मात्रमाकाशस्य शब्दतन्मात्रम्" (योग० १।४५ व्यासः)=पृथिवी के अणु की गन्धतन्मात्रा, जल के अणु की रसतन्मात्रा, अग्नि के अणु की रूपतन्मात्रा, वायु के अणु की

स्पर्शतन्मात्रा, आकाश के अणु की शब्दतन्मात्रा है। प्रधान=प्रकृति की गुणवत्ता नहीं किन्तु गुणमयता है, अतः अणुओं से प्रकृति की ज्येष्ठता है॥ ३९॥

उस इस महत्त्वपूर्ण जड रूप प्रधान=प्रकृति की ऐसी महती प्रवृत्ति किसलिये है?—

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः
प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्॥ ४०॥

(प्रधानस्य सृष्टिः—पुमर्थम्—अनुपभोगे—अपि) प्रकृति की सृष्टि=सर्जनप्रवृत्ति पुरुष के लिये=पुरुषप्रयोजन के लिये है, अपना उपभोग न होने पर भी (उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्) उष्ट्रकुङ्कुमवहन की भांति=जैसे ऊंट अपने उपभोग के अभाव में बहुमूल्य केसर को परार्थ=दूसरे के लिये वहन करता है। ऐसे ही प्रकृति की सृष्टि=सर्जनप्रवृत्ति भी स्वार्थ नहीं किन्तु परार्थ अर्थात् पुरुष के लिये है॥ ४०॥

जिससे प्रकृति की सृष्टि परार्थ है=पुरुष के लिये है, अत एव—

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्॥ ४१॥

(कर्मवैचित्र्यात्) पुरुषों के विविधकर्मों के होने से (सृष्टिवैचित्र्यम्) सृष्टि की विविधता है=विविध सृष्टि होती है॥ ४१॥

हो कर्मवश से विविध सृष्टि, उस विविध सृष्टि के उत्पाद—नाश कार्य कैसे होते हैं, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्॥ ४२॥

(कार्यद्वयं साम्यवैषम्याभ्याम्) विविध सृष्टि का उत्पाद और नाश ये दो कार्य सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की विषमता और समता से होते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की विषमता=न्यून-अधिकयोग से विविधसृष्टि का उत्पाद और उनकी समता से नाश होता है, क्योंकि सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति है, यह कहे जाने से॥ ४२॥

क्यों जी! सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की विषमता होने पर भी विमुक्त के प्रति प्रधान=प्रकृति की सृष्टि क्यों नहीं होती, इस विषय में कहते हैं—

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्॥ ४३॥

(विमुक्तबोधात्) मैं विमुक्त हो गया=जीवन्मुक्त हो गया इस बोध

से विमुक्त के प्रति (प्रधानस्य सृष्टिः—न) प्रधान=प्रकृति की सृष्टि नहीं होती (लोकवत्) लोक की भांति कृतकृत्य होने से, जैसे लोक में भोजन खाया हुआ मनुष्य फिर भोजन के लिये प्रवृत्त नहीं होता॥ ४३॥

अच्छा, विमुक्त सृष्टि के भोगार्थ न प्रवृत्त हो, किन्तु प्रधान के विभु होने से सर्वत्र उसके सृष्टिकार्य के लिये प्रवृत्त होने से विमुक्त के लिये भी उसकी सृष्टि की पहुँच हो जावेगी, इस पर कहते हैं—

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात्॥ ४४॥

(अन्योपसर्पणे—अपि मुक्तोपभोगः—न) भोग्या प्रधान सृष्टि का उपसर्पण=पहुंचने=मुक्त के समीप पहुँचने पर भी मुक्त का उपभोग नहीं होता है (निमित्ताभावात्) उपभोग के निमित्तभूत वासना के अभाव से। वासना विवेक से निवृत्त हो गई, अतः मुक्त के समीप में प्राप्त प्रधान=प्रकृति की सृष्टि का उपभोग नहीं होता॥ ४४॥

अतः कोई मुक्त हैं और कोई बद्ध पुरुष हैं, इस प्रकार—

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः॥ ४५॥

(व्यवस्थातः—पुरुषबहुत्वम्) मुक्त-बद्ध व्यवस्था से पुरुष बहुत हैं॥ ४५॥

आशङ्का करके समाधान करते हैं—

उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम्॥ ४६॥

(उपाधिः—चेत्) पुरुष के मुक्तत्व-बद्धत्व में कारण उपाधि है, पुरुषबहुत्व नहीं, पुरुष तो एक ही है, मुक्तत्व-बद्धत्व को आश्रित कर पुरुषबहुत्व साधना युक्त नहीं क्योंकि उसका बहुत्व उपाधिकृत है। यदि यह कहा जावे तो (तत्सिद्धौ पुनः—द्वैतम्) उपाधि से भेदसिद्धि में फिर वैसे ही द्वैत मुक्तत्व, बद्धत्व स्थित हैं ही, इस से कोई मुक्त और बद्ध पुरुष हैं, वैसा ही पुरुषबहुत्व रहता है॥ ४६॥

उपाधि स्थिर नहीं, वह तो आविद्यक=मिथ्या=असत्य है, इस से पुरुष का मुक्तत्व, बद्धत्व भेद भी स्थिर नहीं, अतः पुरुषबहुत्व नहीं है। इस पर कहते हैं—

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः॥ ४७॥

(द्वाभ्याम्—अपि प्रमाणविरोधः) उपाधि के दोनों प्रकारों से अर्थात् स्थिरत्व-अस्थिरत्व, वास्तविकत्व-अवास्तविकत्व=सत्यत्व-मिथ्यात्व से भी प्रमाणविरोध है। प्रमाण पुरुषबहुत्व का—"**ये तद्विदुरमृतास्ते**

भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति'' (बृह० ४। ४। १५) यहां प्रमाण में मुक्त भी बहुत, बद्ध भी बहुत हैं, यह स्पष्ट है। उपाधि के स्थिरत्व में मुक्त और बद्ध भेद, ये पुरुष का ही सिद्ध होता है मुक्त और बद्ध दो ही पुरुष हों न कि बहुत मुक्त और बहुत बद्ध पुरुष। उपाधि के अस्थिरत्व में भी प्रमाणविरोध है ही, प्रमाण में बहुत्व प्रतिपादन से। इसलिये दोनों प्रकार प्रमाणविरुद्ध हैं। प्रमाण में तो मुक्त भी बहुत और बद्ध भी बहुत हैं, अतः पुरुषबहुत्व भलीभांति सिद्ध हुआ।

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में यह और इस से पूर्व का सूत्र दोनों सूत्र द्वैत साधने को अन्यथा व्याख्यात किए हैं। ये दोनों सूत्र पूर्वपक्ष को उठाकर पुरुषबहुत्व साधने के लिये हैं, न कि द्वैत साधने के लिये। वहां उत्तर सूत्र—''द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः'' में प्रमाण विरोध कैसे है, उन्होंने इस में कोई श्रुति उद्धृत करके या उदाहरण देकर नहीं दिखलाया। विज्ञानभिक्षुभाष्य में 'पुरुषोऽविद्या' यह भी अप्रासङ्गिक कल्पना की है॥ ४७॥

क्यों जी! अद्वैत श्रुति भी तो है—''**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**'' (बृह० ४। ३। १५)=यह पुरुष असङ्ग है। इस प्रकार एकत्व-बहुत्व प्रतिपादक श्रुतियों का परस्परविरोध आता है। इस पर कहते हैं—

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरञ्च साधकाभावात्॥ ४८॥

(द्वाभ्याम्—अपि—अविरोधः) पुरुष के एकत्व-बहुत्व प्रतिपादक श्रुतियों से सांख्य-सिद्धान्त का अविरोध ही है, विरोध नहीं है उन में एकत्व-श्रुति जातिपरक होने से पूर्व कहे गए के अनुसार—''**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**'' (बृह० ४। ३। १५) यहां जातिपरक एक वचन है—''**नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्**'' (सांख्य० १। १५४) यह पूर्व कह दिया है। तथा बहुत्वश्रुति के व्यक्तिपरक होने से पुरुष बहुत हैं। अतः (पूर्वम्—उत्तरं च न साधकाभावात्) अन्यथा पुरुषबहुत्वकल्पना दोष नहीं आता, जैसे उपाधि से पूर्वदोष कहा है। और न उत्तरदोष प्रमाणविरोध होता है, यहां सांख्यसिद्धान्त में साधक के अभाव से=दोषसाधक के अभाव से॥ ४८॥

अच्छा, उपाधि से पुरुषबहुत्व न हो किन्तु पुरुष तो एक ही है, परन्तु वह प्रकाशस्वरूप है, निज प्रकाश से अपने आत्मा को बहुत रूप से प्रकाशित करता है, यहां कहता है—

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥ ४९ ॥

(प्रकाशतः—तत्सिद्धौ) पुरुष का निज प्रकाश से बहुत्वसिद्धि में पुरुषत्वसिद्धि से (कर्मकर्तृविरोधः) कर्म, कर्ता का विरोध आता है। कर्म और कर्ता भिन्न-भिन्न होते है, एक ही का कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों नहीं होते, प्रकाशक प्राकाश्य को अपेक्षित करता है जिस को वह प्रकाशित करे। प्राकाश्य के बिना प्रकाशकसिद्धि भी नहीं होती। अतः यह उक्त कल्पना ठीक नहीं॥ ४९ ॥

फिर यह दूसरा दोष है—

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥

(जडव्यावृत्तः—चिद्रूपः) पुरुष जड से भिन्न चेतनस्वरूप सूर्य के समान जड प्रकाशवान् नहीं है। अतः चेतन होता हुआ वह (जडं प्रकाशयति) जड अन्तःकरण, इन्द्रिय शरीररूप जड को प्रकाशित करता है, जड उसका प्राकाश्य होता है, स्वप्रकाश प्रसङ्ग नहीं है, स्वयं प्रकाश-स्वरूप होने से। अतः पुरुषबहुत्व पुरुष के प्रकाशस्वरूप होने से ठीक नहीं है॥ ५० ॥

यदि इस प्रकार पुरुष प्रकाशस्वरूप सूर्य की भांति प्रकाश धर्मवान् नहीं तो—"**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**" (यजु० ३१। १८) यहां पुरुष को आदित्यवर्ण=सूर्य जैसा प्रकाशवान् कहा है। इस श्रुति से विरोध हो जावे। इस पर कहते हैं—

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धिः ॥ ५१ ॥

(श्रुतिविरोधः—न) श्रुति से विरोध नहीं है, क्योंकि श्रुति में (रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः) रागीजनों के वैराग्यों के लिये=संसार से वैराग्य के उत्पादनार्थ सूर्य जैसा प्रकाशवान् वह परम पुरुष परमात्मा सूचित किया है, उससे भिन्न संसार तमोरूप है। तमोरूप संसार से वैराग्य रागी को हो जावे, अतः परम पुरुष परमात्मा को सूर्य के समान प्रकाशवान् कहा गया है। उसे ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है और अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है, यह लक्ष्य भी वैराग्य का निर्दिष्ट किया है। अतः परम पुरुष के प्रकाशवान् होने की सिद्धि श्रुति में है, स्वतः पुरुषबहुत्व कल्पना में सूत्रशैली से विपरीत योजित किया है, वह ठीक नहीं॥ ५१ ॥

क्यों जी! परमपुरुष के प्रकाशवान् होने की श्रुति में जगत् से

वैराग्य की कल्पना व्यर्थ करते हो किन्तु जगत् ही नहीं। जगत् तो मिथ्या है, स्वप्न की भांति है, वैराग्य सम्पादन निरर्थक है। इस पर कहते हैं—

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात्॥ ५२॥

(जगत्सत्यत्वम्) जगत् का सत्यत्व है, मिथ्यात्व नहीं है, स्वप्न जैसा या माया जैसा, सीपी में चान्दी की भांति, रस्सी में सर्प की भांति नहीं। क्योंकि (अदुष्टकारणजन्यत्वात्) दुष्ट कारण से जगत् का जन्यत्व= उत्पत्ति नहीं, जैसे निद्रादोष से स्वप्न, तथा इन्द्रियदोष से=संस्कारदोष से शङ्खपीतता जैसे होती है, ऐसा नहीं। दूर से या अल्प प्रकाश से सीपी में चान्दी का भ्रम होने के समान रस्सी में सर्पभ्रम के समान नहीं। किन्तु— "**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**" (ऋ० १०। १९०। ३) श्रुति में परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति स्पष्ट कही है (बाधकाभावात्) बाधक के अभाव से भी जगत् स्वप्नवत् या मायावत् नहीं, सीपी में चान्दी जैसा या रस्सी में सर्प जैसा नहीं। जगत् का बाधक भी कोई उपलब्ध नहीं होता, जैसे स्वप्नवस्तु का बाधक जागरण या जैसे मायावाले का सीपी में चान्दी का। रस्सी में सर्प का बाधक आवरणद्रव्यविच्छेद, सावधान दृष्टि और प्रकाश होता है, वैसा यहां नहीं है। जगत् तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्ध होता ही है॥ ५२॥

और फिर—

प्रकारान्तरासम्भावात् सदुत्पत्तिः॥ ५३॥

(प्रकारान्तरासम्भवात्) जगत् के उत्पत्ति-विषय में प्रथम अध्याय में कहे अन्य प्रकारों के निराकृत होने से (सदुत्पत्तिः) सद्रूप ही अनभिव्यक्तता से विद्यमान जगत् की उत्पत्ति अभिव्यक्ति होती है। अतः जगत् का मिथ्यात्व या मायात्व नहीं है॥ ५३॥

अच्छा, जगत् मिथ्या न हो, हो उसका अस्तित्व, जगत् संहत और संहत परार्थ होने से पुरुष के भोगार्थ है। वह फिर उस में जगत् में पुरुष=जीवात्मा का साक्षात्कर्तृत्व है या उस से भिन्न का? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः॥ ५४॥

(अहङ्कारः कर्ता) अहङ्कार कर्तृत्वव्यापार वाला है, अहंवृत्तिवाले अन्तःकरण का कर्तृव्यापार है उसके चलन-विचलन धर्मवाला होने से (पुरुषः—न) पुरुष कर्ता नहीं=कर्तृत्वव्यापारवाला नहीं, उसके निष्क्रिय

होने से चलन-विचलन धर्मरहित होने से॥ ५४॥

हो अहङ्कार कर्ता=कर्तृत्वव्यापार वाला, परन्तु अहङ्कार भोक्ता नहीं है, उसके संहत परार्थ होने से। पुरुष भोक्ता है, यह हेतुसहित कहते हैं—

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्॥ ५५॥

(भुक्तिः—चिदवसाना) भोग चित्-चेतन पुरुष में अवसान=संस्थान आश्रय लेने वाला है=पुरुष के निमित्त है=पुरुष के लिये है। क्योंकि (तत्कर्मार्जितत्वात्) पुरुष के तत्कर्माजित होने से, तत्कर्म=उस अहङ्कार के कर्म, तत्कर्म=अहङ्कार के कर्म अर्जित-उपार्जित=आचरित सञ्चित जिसके लिये हैं वह तत्कर्मार्जित पुरुष, उसके तत्कर्मार्जित होने से—अहङ्कार के कर्म पुरुष के लिये सञ्चित होने से। अथवा उस पुरुष के लिये कर्म तत्कर्म=तदर्थ कर्म अर्जित किए जिसने वह तत्कर्मार्जित अहङ्कार, उस अहङ्कार के कर्म से अर्जित होने से। दोनों विग्रहों में अहङ्कार ही पुरुष के लिये कर्मों का अनुष्ठान करता है उसके परार्थ होने से, पुरुष के लिये होने से कुठार की भांति करण-उपकरण साधन अहङ्कार पुरुष का है— "**....करणत्वाद् वास्यादिवत्.....**" (सांख्य० ५।६९) अतः पुरुष भोक्ता है। कहा भी है—"**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग० २।१८)॥ ५५॥

क्यों जी! पृथिवीलोक से उत्कृष्ट चन्द्र आदि लोक में उसके कर्मवश उत्कृष्ट भोगार्थ गए हुए पुरुष की वहां कृतकृत्यता हो जाती है, अथवा वहाँ से भी पुनर्जन्म ग्रहणार्थ आता है। इस पर कहते हैं—

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात्॥ ५६॥

(चन्द्रादिलोके—अपि—आवृत्तिः) चन्द्र आदि लोक में भी पुरुष की वहाँ स्थिरता या कृतकृत्यता नहीं किन्तु वहां भी पुनर्जन्मावृत्ति होती है (निमित्तसद्भावात्) पुनर्जन्म के निमित्त अविवेक वासना आदि के वर्तमान होने से॥ ५६॥ अपितु—

लोकस्य नोपदेशात् तत्सिद्धिः पूर्ववत्॥ ५७॥

(लोकस्य) संसार की=लोकस्थ की=प्रत्येक लोकस्थ मनुष्य की=मनुष्यमात्र की (उपदेशात् तत्सिद्धिः—न) उपदेशमात्र से=उपदेश श्रवणमात्र से मुक्तिसिद्धि नहीं होती है (पूर्ववत्) पूर्वकथन की भांति श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार के अनुष्ठान से मुक्ति सिद्धि होती है॥ ५७॥

उपदेश श्रवण मात्र से भी मुक्ति होती है, ऐसा श्रुति कहती है—''**श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते**'' (कठो० १।३।१६) अर्थात् श्रवण करके मेधावी ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है। इस पर कहते हैं—

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः॥५८॥

(विमुक्तिश्रुतिः) उपदेश-श्रवण से विमुक्ति होती है, इस में श्रुति है (पारम्पर्येण तत्सिद्धौ) परम्परा से उस श्रवणचतुष्टय सिद्धि में माननी चाहिए कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात् करके होती है यह अभिप्राय है। क्योंकि वहां ही अन्त में पढ़ा गया है कि ''**मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव**'' (कठो० २। ६। १८) यहां योगविधि भी उपाय कहा है। वहां ही यह भी कहा है कि ''**एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा**'' (कठो० १।२।१३) इस वचन में श्रुत्वा=श्रवण करके, सम्परिगृह्य=मनन करके, प्रवृह्य=निदिध्यासन करके, आप्य=साक्षात्कार करके। इस प्रकार श्रवणचतुष्टय स्पष्ट है॥ ५८॥

विमुक्ति के अनन्तर भुक्ति के विषय में पूर्वपक्षरूप से कहते हैं—

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद् भोगदेशकाललाभो व्योमवत्॥५९॥

(व्यापकत्वे—अपि) आत्मा के व्यापकत्व स्वीकार करने पर भी (उपाधियोगात् गतिश्रुतेः—च) उपाधिसम्बन्ध से गतिश्रुति के=उसकी जो देहान्तरगतिश्रुति है—''**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्**'' (कठो० २। ५। ७)=कुछ जीवात्माएं मनुष्य आदि योनि को प्राप्त होते हैं शरीरधारण के लिये। कुछ स्थावर=वृक्षादि को प्राप्त होते हैं जैसा जिसका ज्ञान और कर्म है। इस गतिश्रुति का देहरूप उपाधि के सम्बन्ध से सम्भव है=उस आत्मा की देहान्तरगति सम्भव है। कैसे? (व्योमवत्) जैसे व्यापक आकाश घट आदि उपाधियोग से जहां-तहां गतिवाला होता है वैसे ही आत्मा के व्यापक होने पर भी गतिनिमित्त से (भोगदेशकाललाभः) भोग के देश-काल का लाभ हो जावेगा, अतः आत्मा विभु मानना चाहिए॥ ५९॥

उत्तर देते हैं—

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गान्न तत्सिद्धिः ॥ ६० ॥

(अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गात्) आत्मा व्यापक होता हुआ देहरूप उपाधि के योग से भोग के देश-काल को प्राप्त करता है। यह हो सके देहरूप उपाधि प्राप्त के अनन्तर, परन्तु उत्पन्न होते हुए देह के आत्मा से अनधिष्ठित होने से, गल जाने, सड़ जाने का प्रसङ्ग हो जावे, अतः (तत्सिद्धिः—न) आत्मा के व्यापकत्व की सिद्धि नहीं होती, तथा व्यापकत्व से, देहोपाधियोग से गति स्वीकार में भोगसिद्धि भी नहीं होती ॥ ६० ॥

क्यों जी! उत्पन्न होता हुआ देह आत्मा के अधिष्ठान की अपेक्षा न करे किन्तु अदृष्ट की अपेक्षा करे, अदृष्ट के योग से देह की उत्पद्यमानता तथा अपूतिभाव=न सड़ना हो सके। इस पर कहते हैं—

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदङ्कुरे ॥ ६१ ॥

(अदृष्टद्वारा चेत्) यदि अदृष्टद्वारा देह की उत्पद्यमानता हो, तो (असम्बद्धस्य तदसम्भवात्) जीवात्मा के सम्बन्ध के बिना अदृष्ट प्रवृत्त नहीं होता। उस ऐसे उसके असम्बद्ध अदृष्ट का वहां देह शुक्र आदि में सम्भव न होने से देह की उत्पत्ति का हेतु होना असम्भव है (अंकुरे जलादिवत्) अंकुरोत्पत्ति में बैजिक जीवत्व=बीजसम्बन्धी या बीजरूप जीवत्व के बिना, जैसे जल खाद्य आदि योग का हेतु निरर्थक है ॥ ६१ ॥

और फिर यह अन्य दोष है—

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते ॥ ६२ ॥

(निर्गुणत्वात्) आत्मा के निर्गुण होने से गुणसम्पर्करहित होने से= केवल चेतनस्वरूप होने से (तदसम्भवात्) उस में अदृष्ट का असम्भव है, अतः यह सिद्धान्त युक्त नहीं। क्योंकि (एते—अहङ्कारधर्माः—हि) ये अदृष्ट आदि अहङ्कार के धर्म हैं ॥ ६२ ॥

और भी—

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ६३ ॥

(विशिष्टस्य जीवत्वम्) अहङ्कार से विशिष्ट—'अहम्=मैं' इस प्रतीति से युक्त 'अहम्=मैं' इस अभिमान से युक्त आत्मा का जीवत्व= जीवसंज्ञा है (अन्वयव्यतिरेकात्) अन्वय व्यतिरेक से, जहां 'अहम्=मैं' अनुभूति है वह जीव है, जहां नहीं है वह जीव नहीं ॥ ६३ ॥

अहङ्कारविशिष्ट आत्मा जीव यह कह दिया, उस ऐसे जीव की कार्यसिद्धि कैसे होती है ? क्या ईश्वराधीन होती है ? इस पर कहते हैं—

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ॥ ६४ ॥

(अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिः) जीव की कार्यसिद्धि=कार्यनिष्पत्ति या कर्मप्रवृत्ति अहङ्काररूप कर्ता के अधीन होती है, क्योंकि अहङ्कार से युक्त ही जीव है (ईश्वराधीना न) ईश्वराधीन नहीं। क्योंकि (प्रमाणाभावात्) जीव का कर्म ईश्वराधीन है इस में प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जीव कर्म करने में ईश्वर के अधीन नहीं, अपितु स्वतन्त्रता से कर्म करने के लिए श्रुति है—"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४०।२) कर्मों को करते हुए सौ या अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा करे। सांख्यकर्ता की दृष्टि में ईश्वरसत्ता है यह सिद्ध होता है, अतएव उसके अधीन जीव के कर्म करने का निषेध है ॥ ६४ ॥

जीव की कर्मसिद्धि अहङ्कार के अधीन मानी गई और वह अदृष्ट के अधीन माननी चाहिए। जैसे-जैसे जिस-जिस जीव का अदृष्ट होगा वैसी-वैसी उस-उस जीव की कार्यसिद्धि होगी। इस पर कहते हैं—

अदृष्टोद्भूतिवत् समानम् ॥ ६५ ॥

(अदृष्टोद्भूतिवत् समानम्) अदृष्टोद्भूति=अदृष्टोत्पत्ति=जीव की अदृष्टोत्पत्ति की भांति समान है। जीव की अदृष्टोत्पत्ति भी अहङ्कार-निमित्तक है, यह पूर्व कह आए हैं—"**चिदवासना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्**" [५५] अतः समानता है। अदृष्टाधीन मन्तव्य में भी अहङ्काराधीन ही कार्यसिद्धि होती है, यह आजाता है ॥ ६५ ॥

अच्छा, हो जीव की कार्यसिद्धि=कर्मप्रवृत्ति अहङ्काररूप अन्तःकरण द्वारा, परन्तु उसके कर्मफल भोग की अनुभूति किस उपकरण से सेवन करता है जो मुक्ति भोगानुभूति "**चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्**" [५५] इस सूत्र में कही है—

महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥

(अन्यत्—महतः) कार्यसिद्धि=कर्मप्रवृत्ति से अन्यत्=भिन्न कार्य भोक्तव्य=भोग=भोगानुभूति तो महत्तत्व=बुद्धिरूप अन्तःकरण का कार्य है, उसके द्वारा भोग की अनुभूति जीव करता है। बुद्धि के आश्रित ही सब भोग हैं यह प्रसिद्ध है, क्योंकि "**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह०

४।३।१५) भोग तो बुद्धि से सेवन करता है। उसके अभाव में भोगाभाव होगा, फिर विमुक्ति यह भी समझना चाहिए॥ ६६॥

अब महत्तत्व के अनन्तर प्रकृति का पुरुष के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह कहते हैं—

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यना-
दिर्बीजाङ्कुरवत्॥ ६७॥

(प्रकृतेः स्वस्वामिभावः—अपि) प्रकृति का पुरुष के साथ 'पुरुषेण=पुरुष के साथ' यह अर्थापत्ति से प्रस्तुत प्रकरण से 'प्रकृतेः' षष्ठी सम्बन्ध से आता है। प्रकृति का पुरुष के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है, प्रकृति तो 'स्व' है पुरुष का और पुरुष स्वामी है उसका। वह यह प्रकृति पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी (बीजाङ्कुरवत्—अनादिः कर्मनिमित्तः) बीज अंकुर की भांति प्रवाहरूप से अनादि है, जैसे बीज और अंकुर का सम्बन्ध प्रवाह से प्रवृत्त होता है, बीज होने पर अंकुर, अंकुर होने पर बीज। वैसे ही स्व होने पर स्वामी और स्वामी होने पर स्व होता है। वह यह प्रकृति-पुरुष का स्वस्वामिभाव कर्मनिमित्तक है स्वाभाविक या नित्य नहीं। कर्मशब्द से यहां धर्म-अधर्म संस्कार अभीष्ट है। कर्मक्षय हो जाने पर स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का अभाव हो जाता है, उसके अभाव से मोक्ष हो जाता है, यह भी समझना चाहिए॥ ६७॥

उस विषय में पञ्चशिख का मत कहते हैं—

अविवेकनिमित्तको * वा पञ्चशिखः॥ ६८॥

(वा) अथवा (अविवेकनिमित्तकः) अविवेक हेतु जिसका है ऐसा वह यह प्रकृति-पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है (पञ्चशिखः) ऐसे ही पञ्चशिख कहते हैं। यहां 'वा' पूर्वापेक्षा से विशिष्टता दर्शाने के लिये है, पञ्चशिख प्रमाण प्रदर्शन है॥ ६८॥

मतान्तर कहते हैं—

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः॥ ६९॥

(लिङ्गशरीरनिमित्तकः) वह ही प्रकृति-पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध लिङ्गशरीरनिमित्तक है। लिङ्गशरीर से यहां स्थूल शरीर धारण

---

* 'अविवेकनिमित्तकः' अनिरुद्ध का, 'अविवेकनिमित्तः' विज्ञानभिक्षु का पाठ है।

करने के लिये जो वासनाशक्ति है, वह गृहीत है, यह लक्ष्य है (इति सनन्दनाचार्यः) ऐसा सनन्दनाचार्य मानते हैं॥ ६९॥

इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के स्वस्वामिभाव होने पर स्वामी पुरुष स्वभूता प्रकृति को जब देखता है तब उसके अन्दर 'पुरुष के अन्दर' भोगप्रवृत्ति उपजती है=प्रकट होती है, अतएव वह महत्तत्त्व=बुद्धि से युक्त होता है। जैसे कहा है—"**महतोऽन्यत्**" [६६] पश्चात् भोगार्थ चेष्टा के लिये अहङ्कार को स्वीकार करता है, चेष्टा, कर्म का प्रादुर्भाव होता है अहङ्कार साधन से। कहा है—"**अहङ्काराधीना कार्यसिद्धिः**" [६४] पुनः कार्यसाधन के लिये इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है, इन्द्रियों पर अधिष्ठातृत्व करता है, इन्द्रियों पर अधिष्ठातृत्व के लिये शरीर में प्रविष्ट होता है, शरीर में प्रविष्ट होकर उन इन्द्रियों से विषयों के प्रति दौड़ धूप करता है, पुनः त्रिविध दुःखों को अनुभव करता है। यह है स्वस्वामिभाव का परिणाम। अतः—

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः॥ ७०॥

(यत्—वा तत्—वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः—तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः) जो कोई भी निमित्त हो प्रकृति-पुरुष के स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का उसका उच्छेद=उसका नाश करना पुरुषार्थ=पुरुष स्वरूप का लाभ है—"**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४। ३। १५)=यह पुरुष असङ्ग है, सङ्ग-रहितरूप में इसे देखना है जो कि आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष=ब्रह्मसम्पत्तिरूप प्रसाद भावनीय=सम्पादनीय है। अन्त में द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति निमित्त और ग्रन्थ समाप्तिनिमित्त भी है॥ ७०॥

सांख्यदर्शन में स्वामिब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्यसहित
षष्ठअध्याय समाप्त हुआ।
ब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्यसहित सांख्यदर्शन समाप्त।

❑❑❑